

न्याय दर्शन में शब्दार्थ सम्बन्ध

रुचि कुमारी*

भारतीय न्यायदर्शन का इतिहास अत्यन्त ही प्राचीन है। जब से हमारी सभ्यता और संस्कृति का जन्म हुआ है तभी से इसका भी जन्म बतलाया जाता है। भारतीय दृष्टिकोण से इसको एक बहुत ही बड़े अर्थ में ग्रहण किया जाता है। इससे भिन्न-भिन्न प्राचीन नाम हैं जैसे—आन्वीक्षिकी। इसका अर्थ है

—प्रत्याक्षगामाभ्यामिक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा।

तथा—प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्याय विद्या न्यायशास्त्रम्।¹

अर्थात् न्याय विद्या को ही आन्वीक्षिकी कहते हैं। यह आन्वीक्षिकी प्रत्यक्ष से देखे हुये अथवा शास्त्र से सुने हुए विषयों के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान कराने वाली विद्या है, इस विद्या का ही नाम न्याय विद्या, न्याय शास्त्र है। आन्वीक्षिकी के अतिरिक्त न्याय विद्या को हेतु विद्या, हेतु शास्त्र, तर्कशास्त्र, तर्क विद्या, वाद विद्या, न्याय विद्या, न्याय शास्त्र, प्रमाण शास्त्र, वाकोवाक्य, तक्की, विमंसी, आदि नामों से प्रसिद्ध रहा है।

साधारणतः बोलचाल की भाषा में 'न्याय' का अर्थ नियम युक्त समझते हैं। इस प्रकार नियम युक्त व्यवहार ही न्याय है। नियम युक्त व्यवहार ही नियमनिष्ठ आचरण कहलाता है और नियमनिष्ठ आचरण करने वाला न्याय प्रिय अथवा नैतिक व्यक्ति कहलाता है। इस दृष्टि से हम अपने दैनिक जीवन में —'न्याय' शब्द का प्रयोगनियम युक्त नैतिक उचित आदि अर्थों में करते हैं। इसका संबंध व्यक्ति के व्यवहार लेकर सामाजिक व्यवस्था और न्यायालय के विधान तक से है। यह स्पष्ट होता है कि न्याय शब्द का अर्थ व्यापक है। साधारणतः गौतम मुनि को ही भारतीय तर्कशास्त्र का गुरु माना जाता है। इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि गौतम मुनि के पहले भी वेद और उपनिषद् काल में लोग वाद-विवाद किया करते थे। इसलिए भारतीय न्याय का समय वैदिक काल भी बतलाया जा सकता है² और इस दृष्टिकोण से भारतीय विद्वानों का आज यह दावा है कि भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास संसार में सबसे प्राचीन है।

नैयायिक शब्द और अर्थ को भिन्न-भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार शब्द तथा अर्थ में वाच्यवाचक भाव संबंध है। वे मीमांसकों के शब्द तथा अर्थ में स्वाभाविक संबंध मानने का खण्डन करते हैं। नैयायिकों के अनुसार मीमांसक शब्द तथा अर्थ में स्वाभाविक संबंध मानकर भी नहीं मानते। उनकी मान्यता में अन्तर्विरोध दिखाने के लिए नैयायिक कहते हैं कि शब्द तथा अर्थ में स्वाभाविक संबंध तब होगा जबकि शब्द तथा अर्थ में (1) तादात्म्य (अभेद) संबंध हो अथवा (2) प्रत्यापूव (बोध कराने योग्य) तथा प्रत्यावाचक (बोधक) रूप संबंध हो या (3) प्राप्ति (स्वाभाविक) रूप संबंध हो। नैयायिक कहते हैं कि शब्द और अर्थ में तीन प्रकार के सभावित संबंध बनते हैं—

- (1) शब्द के पास अर्थ की उपस्थिति
- (2) अर्थ के पास शब्द की उपस्थिति
- (3) दोनों की सापेक्ष भाव से उपस्थिति³।

नैयायिकों शब्द एवं अर्थ के संबंध में इन तीनों संबंधों को असम्भव मानते हैं। उनका कहना है कि यदि शब्द के पास अर्थ की उपस्थिति होती तो "मोदक" शब्द के उच्चारण मात्र से उच्चरण स्थान (मुख) में मोदक गाय की तरह दौड़ कर चला आया करता। इसी प्रकार अग्नि कहने से मुख जलने लगता तथा तलवार कहने से मुख कट जाता, किन्तु ऐसा होता नहीं। संबंध के दूसरे विकल्प को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि जो शब्द उत्पन्न होता है वह अर्थदेश तक नहीं पहुँच सकता। यदि कहा जाये कि सामान्य "मोदक" शब्द "मोदक" अर्थ तक पहुँच जाता है तो यह कहना भी उचित नहीं। यह आवश्यक नहीं कि अतिदूर स्थित मोदक पदार्थ तक "मोदक" शब्द पहुँच ही सकेगा।⁴ शब्दार्थ संबंध के विषय में अन्तिम (तीसरे) विकल्प को भी नैयायिक दोषपूर्ण मानते हैं। अर्थ के पास शब्द की उपस्थिति अथवा व्यंजकता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अर्थदेश में स्थान एवं कारण नहीं होते कि जिनसे शब्द उत्पन्न हो सके। शब्दोत्पत्ति के अनुकूल स्थान और करण के बिना "मोदक" शब्द वहाँ नहीं उत्पन्न हो सकता, क्योंकि स्थान एवं करण मुख में ही होते हैं। यह भी युक्ति उपस्थित की जा सकती है कि मुख में उच्चरित अकेला "मोदक" शब्द सर्वव्यापक हो जाता है और इस प्रकार उसी शब्द के अर्थ देश से सम्बद्ध होने के कारण वाच्य एवं वाचक का समानाधिकरण्य प्राप्त हो जाता है किन्तु ऐसा मानने पर फ़ैला हुआ "मोदक" शब्द "मोदक" के अतिरिक्त अन्य सभी अर्थों से सम्पृक्त होने के कारण सबका वाचक हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। दूसरे, यह मत इसलिए भी दोषयुक्त है कि प्रत्येक समय अगणित शब्दों का उच्चारण हुआ करता है। इन शब्दों का सम्पर्क किसी एक "मोदक" पदार्थ से भी हो सकता है। इस प्रकार एक "मोदक" अर्थ सभी शब्दों का वाच्य बन जायेगा, किन्तु ऐसा स्वीकार करना अनुभव विरुद्ध है।⁴

वैयाकरण शब्द तथा अर्थ में अभेद (तादात्म्य) संबंध मानते हैं। उनके अनुसार जितने अर्थ हैं उन संपूर्णों में अभेद से संज्ञा शब्द वर्तमान होते हैं, जिससे अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान होता है और अर्थ में सम्यक् ज्ञान के अनुसार ही लौकिक व्यवहार हो तहै। अर्थात् सर्वकान मे सर्वथा, (सब तरह से) अर्थ संज्ञा शब्द से सम्बद्ध होते हैं, क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो संज्ञाशब्द से (अर्थ के वाचक नाम शब्द से) रहित हो। इसी कारण "गौ" अर्थ है अश्व अर्थ है" इत्यादि प्रतीती होती है। ऐसा होने से अर्थों के संज्ञा शब्द के रूप होने के कारण उसको विषय करने वाला ज्ञान भी संज्ञा को विषय करता है, इस कारण अर्थ के समान संज्ञावाद से कहा हुआ वह शब्द से उत्पन्न है, ऐसा कहा जा सकता है ऐसा होने से कोई भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष शब्द से रहित नहीं माना जा सकता। इसका खण्डन करते हुए नैयायिक कहते हैं कि शब्द से उत्पन्न होने से शब्द कहा जा सकता है क्योंकि शब्द इसका विषय होने के कारण उत्पादक होता है, किन्तु शब्द से ज्ञात होने के कारण उसे शब्द नहीं कहा जा सकता क्योंकि बिना शब्द के प्रयोग के भी हमें अर्थ (वस्तु) का ज्ञान होता है। शब्द तथा अर्थ के संबंध का उपयोग करते हुए केवल चक्षु आदि इन्द्रियों के संबंध मात्र से जो पदार्थ का ज्ञान होता है उसका संज्ञा शब्द से व्यवहार नहीं होता। पूर्वकाल में शब्द तथा अर्थ के संबंध का ग्रहण होने पर भी केवल इन्द्रियों से देखने आदि के समय में इस अर्थ का यह संज्ञा शब्द वाचक है ऐसा ज्ञान जिस समय पदार्थ का ग्रहण होता है, नहीं रहता है। वह प्रथम हुए अर्थज्ञान से कोई विशेषता नहीं रखता। वह पदार्थ ज्ञान भी वैसा ही होता है। जहाँ पर नाम का ज्ञान है वहाँ पदार्थ का ज्ञान वैसा ही है अर्थात् संज्ञा का ज्ञान न रहते जैसा वस्तु का ज्ञान होता है वैसा ही संज्ञा का रहने पर भी पदार्थ का ज्ञान वैसा ही होता है। उस पदार्थ के ज्ञान का दूसरा कोई समाख्या (संज्ञा) शब्द नहीं है, जिससे अर्थ की प्रतीती होकर व्यवहार हो सके और बिना पदार्थ के ज्ञान के व्यावहार नहीं होता। ऐसा होने से यह सिद्ध होता है कि केवल इन्द्रियों से विषय (अर्थ) के ग्रहण होने के समय समाख्या (संज्ञा) शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु व्यवहार करने के समय ही प्रवृत्ति होती है। इस कारण केवल इन्द्रियों से विषयों में देखना आदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान केवल इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से ही होता है। अतः शब्द जन्य नहीं है। (तदेवमर्थज्ञानकाले स न समाख्याशब्दो व्याप्रियते व्यवहारकाले तुव्याप्रियते तस्मादशाब्दमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पत्तिः) इसलिए यह सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ में भेद है।

शब्द और अर्थ में प्राप्तिरूप संबंध का खण्डन करते हुए नैयायिक कहते हैं कि इस प्रकार के संबंध का किसी प्रमाण से ज्ञान नहीं होता (प्रमाणतोऽनुपलब्धेः) प्रत्यक्ष प्रमाण से शब्द तथा अर्थ की परस्पर प्राप्ति का अतीन्द्रिय होने के कारण

ज्ञान नहीं होता (न खलु शब्दार्थसंबंधः प्राप्तिरूपो वा प्रत्याययप्रत्यायकरूपो वा ? यदि प्राप्ति (लक्षणः) तर्हि तस्य प्रत्यक्षेणोपलब्धिरनुमानेन वा? तत्र तावत् प्रत्यक्षेण नोपलब्धिः। कस्मादतीन्द्रियत्वात्।) कारण यह है जिस श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है उसके विषय न होने वाला उस शब्द का अर्थ तक नहीं होता। इन्द्रियों से गृहीत न होने वाले अतीन्द्रिय विषय रूप भी पदार्थ होते हैं तथा समान ही इन्द्रिय से जाने वाले पदार्थों की ही परस्पर प्राप्ति का ग्रहण भी होता है, इस कारण शब्द तथा अर्थ का मीमांसको का प्राप्ति रूप संबंध नहीं हो सकता। एक इन्द्रिय से गृहीत होने वाले ही दो पदार्थों की परस्पर प्राप्ति का ग्रहण होता है, जैसे अंगुलियों की प्राप्ति, किन्तु शब्द और अर्थ एक ही इन्द्रिय से गृहीत नहीं होते, क्योंकि जिन श्रोत्र से शब्द का ज्ञान होता है उसी से उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता (प्रत्यक्षतस्तावच्छब्दार्थ प्राप्तेर्नोपलब्धिरतीन्द्रियत्वात्। येनेन्द्रियेण गृह्यते शब्दस्तस्य विषयभावमतिवृत्तोऽर्थो न गृह्यते। अस्ति चातिन्द्रियविषयोभूतोऽप्यर्थः समानेन चेन्द्रियेण गृह्यमाणयोः प्राप्तिगृह्यत इति)।

शब्द और अर्थ के प्राप्तिरूप संबंध का पुनः दूसरे हेतु से खण्डन करते हुए नैयायिक कहते हैं कि यदि शब्द तथा अर्थ इन दोनों के प्राप्तिरूप संबंध का ग्रहण हो तो शब्द के समीप अर्थ, अथवा अर्थ के समीप में शब्द रहने लगेगा अथवा शब्द तथा अर्थ दोनों में रहने लगेगा। ऐसा होने पर मोदक शब्द के कहते ही मुख मोदक (लड्डुओं) से भर जायेगा, तथा अग्नि शब्द के कहते ही मुख जलने लगेगा एवं "असि" (तलवार) शब्द के मुख से उच्चारण करते ही मुख फट जायेगा। क्योंकि मीमांसक मत में जहाँ शब्द होता है, वहाँ उसका अर्थ भी प्राप्त होता ही है। अतः शब्द तथा अर्थ का परस्पर प्राप्तिरूप स्वाभाविक संबंध नहीं हो सकता। अतएव शब्द और अर्थ भिन्न-भिन्न हैं।

सन्दर्भ :

- 1 न्यायभाष्य, सूत्र-1
- 2 न्यायभाष्य 2/1/53
- 3 न्यायवार्तिक 2/1/54, पृ. 262.
- 4 न्यायवार्तिक 2/1/54, पृ.261.
- 5 वात्स्यायन भाष्य 1/1/4, पृ. 19
- 6 वात्स्यायन भाष्य, 1/2/53, पृ. 123.
- 7 न्यायतात्पर्यदीपिका 211/56, पृ. 41.
- 8 वात्स्यायन भाष्य, 1/2/53, पृ.123-124.

